पंचम अध्याय

जगदीशचंद्र माथुर के नाटकों के पात्रों की विशेषताएँ

पंचम अध्याय

''जगदीशचंद्र माथुर के नाटकों के पात्रों की विशेषताएँ''

प्रस्तावना -

जगदीशचंद्र माथुर के पात्र अनुभूति और कल्पना के अंतर्जगत को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। इसी कारण कथावस्तु ही गौण हो जाती है। उनके नाटक इसीलिए चरित्र प्रधान हो जाते हैं कि उसमें मानव और मानवीय संबंधों की उतनी प्रधानता है। 'कोणार्क' में सारा चरित्र दो नाट्यस्थितियों पर केंद्रित है- एक विमान पर कलश का स्थापित न हो सकना और दूसरा आक्रमण की स्थिति में पिता पुत्र संबंध का अभिज्ञान। 'शारदीया' में सारा चारित्र्य षड़यंत्र के माध्यम से दो विरोधी पक्षों में उभरता है। 'पहला राजा' में नाट्य-स्थितियाँ ही चुनौती लेकर उपस्थित होती हैं। माथुर के नाटकों में घटनाएँ साधारण हैं और पात्र असाधारण। इसी प्रवृत्ति के कारण माथुर के नाटकों में साधारण-से-साधारण पात्र भी अपने विशिष्ट रंगों में उभरते हैं।

1. सहनशीलता -

माथुर के नाटकीय पात्रों में सहनशीलता दिखाई देती है। अपना कर्तव्य निभाना जीवन का लक्ष्य मानता है। माथुर के 'कोणार्क' नाटक का प्रमुख पात्र विशु सहनशील पात्र है। वह महाशिल्पी है। विशु के लिए कला का रहस्य चयन में है जैसे- ''उपवन में माली छाँट-छाँटकर सुंदर और मनमोहक पौधों और वृक्षों को ही रखता है।''[1] वह राजकीय बातों में शिल्पियों को कोई संबंध नहीं मानता है। विशु कला को राजनैतिक चेतना और विद्रोही स्वरों से असंपृक्त रखना चाहता है। वह राजराज चालुक्य के धमकियों से मुँह मोड़कर रहता है। दूर-दूर से शिल्पी महामात्य द्वारा किए गए अत्याचारों के समाचार लाते हैं और महादंड़पाशिक के सब अधिकार भी हथिया लिए हैं। लेकिन यह सब आशंका जनक खबरें सुनकर भी विशु घबराता नहीं। वह बोलता है- ''किसी की शक्ति बढ़े और किसी की घटें हमें तो 'कोणार्क' को पूरा करना है। राजीव ने धर्मपद के वाणी में विद्रोह की भावना विशु को सुनाता है- तब विशु बोलता है- ''शिल्पियों को विद्रोह की वाणी नहीं चाहिए। राजीव ! मेरी कला में जीवन का प्रतिबिंब और उसके विरूद्ध विद्रोह दोनों सन्निहित हैं। तुम उस किशोर को बुला लाओ। मेरी दृष्टि के स्पर्श से उसकी प्रतिभा

की गंध जागृत होकर उसकी वाणी को मौन कर देगी। मुझे उसकी कला चाहिए।"[2] राजराज चालुक्य शिल्पियों को धमकी देता है कि सात दिन में अम्ल पर कलश स्थापित नहीं हुए तो सारे शिल्पियों के हाथ काट लिए जाएँगे। यह सुनकर विशु विक्षुब्ध नहीं होता। वह धर्मपद से कहता है- "युवक, विनाश का वह संदेश अपने साथियों को भी सुना दो, मुझमें साहस नहीं कि उस विकराल घड़ी के लिए उन्हें तैयार कर सकूँ।"[3] ये सब विशु की सहनशीलता का प्रमाण है। धर्मपद महाराज के सामने शिल्पियों पर होनेवाले सब अत्याचारों को खुलकर बता रहा है। तब विशु कहता है- "यही तो मैं इसे समझा रहा था, देव! शासन के मामलों में पड़ना हम शिल्पियों के लिए अनधिकार चेष्टा होगी।"[4] जब धर्मपद के साथ उसे अपने संबंध का ज्ञात होता है तो उसका हृदय एक साथ दो-दो पीड़ाओं से परेशान हो उठता है और मन की पीड़ा उसे तोड़ते हैं। वह सहनशील जितना है कि चालुक्य के आगे अपने बेटे के प्राण का भीख माँगने के लिए तैयार हो जाते हैं। धर्मपद अत्याचारी चालुक्य के खिलाफ़ लड़ाई करने के लिए तैयार हो जाते हैं। तब वह सौम्यश्री से कह रहा है- "मेरे बंधु क्या किसी तरह धर्मा को बचाया नहीं जा सकता ? मैं चालुक्य के आगे भीख माँगूँगा, मेरे बेटे के प्राण।"[5]

शारदीया नाटक के मुख्य पात्र नरसिंहराव में भी सहनशीलता दिखाई देती है। वह बायजा की माँ के कहे पर पूँजी कमाने के लिए चले जाते हैं। नरसिंह बायजा को बोल रहा है- "मुझसे बोली- नरसिंह, तू किलेदार की लड़की से ब्याह करना चाहता है तो कुछ घर की पूँजी भी तो तैयार कर। मैं ने कहा वह मैं कर लूँगा, तो बोली, जब वह कर लेगा तो बायजाबाई भी तेरी हो जाएगी। ....दूसरे दिन मैं चुपचाप घर से चल दिया।"[6] वह सर्जेराव के बनाए हुए चाल में फस गए। कारागार में बंद हुए। नरसिंह को मिलने और उसकी मृत्युदंड़ की सजा कम करके आजीवन कारागार हो गया, बोलने सरदार जिन्सेवाले कारागार में आता है। तब वह बोल रहा है- "उम्मीद.... सरदार मैं मौत की उम्मीद का सहारा ले रहा था। आपने उसे तोड़ दिया। .....और अब यह जिंदगी। यह गुफा की घिरी-घिरी जिंदगी, किस के लिए।"[7]

2. युग दृष्टि -

माथुर के नाटकीय पात्र युग भावना के प्रतिनिधि बनकर आए हुए हैं। 'कोणार्क' नाटक में विशु और धर्मपद का भावावेश अलग-अलग स्तर का है। इस में विशु प्राचीन युग का

और धर्मपद नवीन का प्रतिनिधि है। धर्मपद बार-बार जनशक्ति का उद्घोष करता है वह युग दृष्टि का परिचायक है। पिता और पुत्र दोनों वर्गीय प्रतिनिधि के रूप में आते हैं। दोनों शिल्पि के प्रतिशोध के प्रतिरूप बनकर अपने प्राण दे देते हैं। 'शारदीया' नाटक के केंद्र में व्यक्ति है। 'कोणार्क' के मूल में समूह को प्रधानता दी गई है। लेकिन 'पहला राजा' नाटक में समस्त मानवता के कल्याण का भाव सक्रिय है। 'पहला राजा' नाटक में शुक्राचार्य के शब्दों में- "हम देंगे विधान। हम ब्रह्मावर्त के मुनि और ब्राह्मण। हम जो जनता के नेता हैं; हम जो अपनी तपस्या और साधना के कारण शासक का पथ प्रदर्शन कर सकते हैं। शासक को हमारे साथ शर्तें करनी होंगी।"[8] शुक्राचार्य के अनुसार राजा का मतलब है अनुरंजक। मुनिगण जो कहता है राजा को वही करना होगा। "राजा यानी अनुरंजक! हम किसे राजा घोषित करेंगे वह हमारा अनुरंजक और धर्म का रक्षक होगा। इसलिए नहीं कि उसमें ईश्वर की शक्ति, या देवताओं के तेज का स्वरूप है, बल्कि इसलिए कि उसके अधिकारों की बुनियाद होगा हमारा दिया हुआ विधान, हमारी बाँधी गई शर्तें।"[9]

पृथु प्रकृति और मानव की विरोधी शक्तियों के केंद्र में स्थित दिखाई देता है। वह अपने अस्तित्व और मानव कल्याण के लिए जूझता हुआ दिखाई देता है। वह पृथ्वी के दोहन में समाजवादी वितरण तथा श्रेष्ठतर जीवन पद्धति के स्वप्न साकार करता है। पृथु कह रहा है- "कौन नहीं होगा दोहक ? सिद्ध और पितृगण यक्ष और दैत्य, पशु और जीवजंतु, वृक्ष और पर्वत! ओ विश्वरूपा वसुंधरे! अपने बाहुबल से मैं तुझे समतल करूँगा, अपने पुरुषार्थ से सबको जुटाकर तेरी अनंत संपदा को मानव मात्र के लिए प्रस्तुत करूँगा।"[10] पृथु के माध्यम से नाटककार ने अपने युग का यथार्थ चित्र उभारा है। अकेलेपन की पीड़ा, आस्थाहीनता, भय, ऊब, उद्विग्नता तथा तनाव को उभारकर उसने युग-मानव के जीवन को मानवीय अर्थ प्रदान किया है। शुक्राचार्य आदि मुनियों द्वारा उत्पन्न संकट, वर्णसंकर तथा दस्युओं के प्रति घृणा का भाव, कवष का आक्रोशपूर्ण नेतृत्व सभी युग संदर्भ को उभारते हैं। मुनिगण मिलकर अत्याचारी शासक वेन का वध कर डालते हैं और शुक्राचार्य का मत है कि शासक का पथप्रदर्शन वही करेगा। "हम देंगे विधान। हम ब्रह्मावर्त के मुनि और ब्राह्मण। हम जो जनता के नेता हैं, हम जो अपनी तपस्या

और साधना के कारण शासक का पथप्रदर्शन कर सकते हैं। शासक को हमारे साथ शर्तें करनी होंगी।"[11]

मुनिगण समाज को वर्णसंकरता से बचाना चाहते हैं। इसलिए उन्होंने वेन के निषाद पत्नी को वन भेजा। शुक्राचार्य बोल रहा है- "मैं ने ही तो उसे वहाँ रातों रात भेजा था ताकि वेन की निषाद संतान ब्रह्मावर्त से दूर ही रहे।"[12] राजा को घोषित करने के पीछे मुनिगण के स्वार्थ हैं। अत्रि मुनि बोल रहे हैं- "ब्रह्मावर्त पर डाकू और लुटेरे छा रहे हैं। सरस्वती नदी के उस पार दस्युओं के जिन नगरों को आर्य योद्धाओं ने कभी का मटियामेट कर दिया था, वही से दस्यु लोग सिर उठाने लगे हैं; हमारे यज्ञ और अग्निहोत्र भ्रष्ट किए जा रहे हैं; वेद मंत्रों की ध्वनियाँ जिन कंठों से निकलती थी उन्हें दबोचा जा रहा है। ....क्या आपका हिमालय भी अछूता रह सकेगा ?"[13] यहाँ भी युग भावना ही प्रकट होती है।

3. *मानवतावादी दृष्टि* -

'कोणार्क' नाटक में धर्मपद एक ऐसा पात्र है उसमें मानवतावादी दृष्टिकोण है। वह कला में भी साधारण जनता की पीड़ा दिखाना चाहता है। इसलिए वह कहता है- "जब मैं मूर्तियों में बंधे रसिक जोड़ों को देखता हूँ तो मुझे याद आती है पसीने में नहाते हुए किसान की, कोसों तक धारा के विरूद्ध नौका को खेनेवाले मल्लाह की, दिन-दिन भर कुल्हाड़ी लेकर खटनेवाले लकड़हारे की ! ....इनके बिना जीवन अधूरा है आचार्य।"[14] वह महामात्य द्वारा शिल्पियों पर किए जानेवाला अत्याचार सह नहीं पाता। धर्मपद सीधे महाराज के सामने महामात्य के अत्याचारों को साफ-साफ बता देता है। जैसे की शिल्पियों का जमीन छीन लीना, मुद्राओं का पुरस्कार बंद करना, हाथ कांटने की धमकी आदि। धर्मपद बोल रहा है- "देव झुरमुट की ओट में चहकनेवाले पक्षी का स्वर सर्वदा हर्षगान ही नहीं होता। आप को क्या मालुम कि उस जयजयकार के पीछे हाहाकार चुपचुप सिसक रहा था ?"[15] यहाँ धर्मपद की मानवतावादी दृष्टि ही दिखाई देती है। जब महामात्य मंदिर पर आक्रमण के लिए आया तब वह मंदिर की और शिल्पियों की मदद करने आगे बढ़ता है और संग्राम में कूद पड़ता है।

'कोणार्क' नाटक में महाराजा नरसिंह देव भी प्रजावत्सल महानुभाव है। वह महामात्य द्वारा किया गया अत्याचार सुनकर दुःखी हो जाते हैं। महाराज तुरंत कार्यवाई कराते हैं।

नरसिंहदेव आज्ञा दे रहा है कि "रहस्याधिकारी, कोषाध्यक्ष को आज ही आज्ञा दो कि जितनी मुद्राएँ मिलनी हैं, कल ही बाँट दे और इसके अतिरिक्त प्रत्येक को दस-दस सुवर्ण मुद्राओं का पुरस्कार मूर्ति प्रतिष्ठापन के उपलक्ष्य में दे।"[16] फिर वह बोल रहा है- "जान पड़ता है वंगदेश में हमारी लंबी अनुपस्थिति के दिनों में राजराज चालुक्य बिना सोचे-समझे शिल्पियों से विरक्त हो गए। हम उनका भ्रम दूर करेंगे। राजधानी लौटने पर शिल्पियों के कुटुंबियों को उनकी जमीन लौटाने की आज्ञा दी जाएगी। सामंतों के लिए दूसरा प्रबंध किया जाएगा।"[17] इसमें उत्कल नरेश नरसिंहदेव की मानवतावादी दृष्टि ही दिखाई देती है।

'कोणार्क' नाटक में धर्मपद शिल्पियों की पीड़ा देखकर प्रधान शिल्पी विशु को बोल रहा है- "मैं तर्क करने नहीं आया हूँ। मैं तो एक ऐसे संसार की ओर आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ जो कि आपके निकट होते हुए भी आपकी आँखों से ओझल हो गया है। इस मंदिर में बरसों से 1200 से ऊपर शिल्पी काम कर रहे हैं। इनमें से कितनों की पीड़ा से आप परिचित हैं ? जानते हैं आप कि महामात्य के भृत्यों ने इनमें से बहुतों की जमीन छीन ली है; कइयों की स्त्रियों को दासियों की तरह काम करना पड़ता है और उधर सारे उत्कल में अकाल पड़ रहा है।"[18] यहाँ भी धर्मपद की मानवतावादी दृष्टि दिखाई पड़ती है और फिर धर्मपद विशु को बोल रहा है- "मगर यह भी तो उचित नहीं कि जब चारों ओर अत्याचार और अकाल की लपटें बढ़ रही हों, शिल्पी एक शीतल और सुरक्षित कोने में यौवन और विलास की मूर्तियाँ ही बनाता रहे।"[19]

शारदीया नाटक में नरसिंहराव में भी मानवतावादी दृष्टि दिखाई देती है। वह हिंदू और मुसलमानों में मित्रता चाहता है। वह सिंधिया महाराज के सामने यह शर्तें रखता है मराठा और निजाम दोनों राज्यों में हिंदू और मुसलमान प्रजा को धर्मकाज करने की पूरी आज़ादी देना चाहिए। "पहली घोषणा तो यह कि दोनों राज्यों में हिंदू और मुसलमानों को अपने धर्म काज करने की पूरी आज़ादी होगी, न दखन में गोवध होगा, न महाराष्ट्र में खुदापरस्ती पर रोकटोक। और दूसरी घोषणा यह कि हिंदू और मुसलमान दोनों परमात्मा की एक बराबर संतान है। इसलिए न हिंदू मंदिरों पर आघात होगा, न मुसलमान मज़ारों, पीरों और पैगंबरों का अपमान किया जाएगा। दोनों एक-दूसरे के साथ मेल-मिलाप से रहेंगे- एक माँ की गोदी में दो भाई।"[20] हिंदू और मुसलमान कोई हो सबके कल्याण की कामना वह करता है।

'पहला राजा' नाटक में पृथु भी मानवतावादी है। मुनिगण उसको अपना राजा घोषित करते हैं लेकिन कुछ शर्तों के आधार पर। मुनिगण अपने स्वार्थ के लिए ही पृथु को राजा घोषित करते हैं। लेकिन उसको पाँच वचन देना पड़ता है। एक-एक वचन के बाद भी उसको कुशा की रस्सी पर गाँठ बांधना पड़ता है। तीसरे और पाँचवें वचन के बाद वह रूकता है। क्योंकि तीसरा वचन है- "लोक में जो कोई धर्म से विचलित होगा, उसे परास्त कर दंड़ देंगे, लेकिन वेदपाठी ब्राह्मण आपके लिए अदंड़नीय होंगे।"[21] गाँठ बाँधने में पृथु मजबूर किया जाता है। पाँचवाँ वचन है- समाज को वर्णसंकरता से बचाना, आर्य जाति के रक्त में मिलावट नहीं होने देना। इसलिए पृथु वचन देने के पहले रूक जाता है। यहाँ पृथु की मानवतावादी दृष्टि झलकती है। मुनिगण साधारण जनता की पुकार नहीं सुनते। राज्य में अकाल बढ़ रहा है। इसका कारण मुनिगण भूचंड़ी का पूजन बताता है। अकाल से बचने के लिए कवष और उर्वी सरस्वती नदी में बाँध बनाने के काम में जुड़े हुए हैं। पृथु बाँध जल्दी पूरा करने के लिए मजदूर माँग रहे हैं, लेकिन मुनिगण मजदूर नहीं देते ऊपर से गए मजदूरों को भी वापस बुलाना चाहते हैं। पृथु भी स्वयं कुदाली लेकर बाँध पूरा करने के लिए निकलता है। वह बोलता है- "हाँ मेरे कंधे पर धनुष नहीं कुदाली है। इस समय मेरा राजचिह्न है, क्योंकि मेरी सैंकड़ों प्रजा ने मुझे इसी रूप में स्वीकार किया है।" "आपके आश्रम के आसपास के किसान मजदूर, अत्रि मुनि ! और आपके भी शुक्राचार्य। आप दोनों व्यर्थ चिंतित थे। वे लोग सब तैयार हो गए तुरंत बाँध को पूरा करने के लिए। मैने कुदाली उठाई कि पाँच-सौ हाथों में कुदालियाँ ललक उठी; मैने मिट्टी ढोने के लिए टोकरी पकड़ी कि पाँच सौ मस्तकों पर टोकरियाँ मुकुट-सी सज गई।"[22]

4. कला प्रेम -

'कोणार्क' नाटक में प्रधान शिल्पी विशु और धर्मपद दोनों कलाप्रेमी हैं। लेकिन दोनों कला की दो युग-प्रवृत्तियों के द्योतक हैं। विशु के लिए कला का रहस्य चयन में है जैसे- "उपवन में माली छाँट-छाँटकर सुंदर और मनमोहक पौधों और वृक्षों को ही रखता है।"[23] किंतु धर्मपद "पसीने से नहाते हुए किसान की, कोसों तक धारा के विरूद्ध नौका को खेने वाले मल्लाह की, दिन-दिन-भर कुलहाड़ी लेकर खटनेवाले लकड़हारे की" चिंता न करनेवाली, जीवन के पुरुषार्थ अलग-थलग पड़ी कला को खेल समझता है। विशु कला को राजनैतिक चेतना और

विद्रोही स्वरों से असंपृक्त रखना चाहता है किंतु धर्मपद पलायन की अपेक्षा उनमें अंतर्गस्त होता है। बारह वर्ष से बारह सौ शिल्पी कोणार्क मंदिर बनाने के काम में लगे हैं। विशु बड़े उत्साह के साथ कोणार्क मंदिर के बारे में सौम्यश्री से बोल रहा है- "हमने पत्थर में जान डाल दी है, उसे गति दे दी है। वह भूल रहा है कि वह धरती का पदार्थ है। उसके पैर धरती पर नहीं टिकते। पत्थर का यह मंदिर आज कल्पना के स्पर्श से हवा की तरह गतिमान, किरण की तरह स्पर्शहीन, सुगंधकी तरह सर्वव्यापी हो रहा है। लेकिन.... लेकिन धरती उसे जगड़े हुए है। ईर्ष्या से.... मुझे लगता है, जैसे अनजाने ही हम लोगों ने पृथ्वी और आकाश के बीच भीषण संघर्ष खड़ा कर दिया है।"[24]

'कोणार्क' नाटक में राजा नरसिंहदेव भी कला-प्रेमी हैं। इसलिए उन्होंने कोणार्क जैसे सुंदर मंदिरों के निर्माण के लिए अनुमति दे दी। सौंदर्यमयी दुनिया बनानेवाले शिल्पी और मूर्तिकार को उन्होंने मनचाहे पुरस्कार भी देते थे। कोणार्क मंदिर को देखने के लिए उत्सुक होकर नरसिंहदेव युद्ध क्षेत्र से आए हैं। वह कह रहा है- "विजय के तुरंत बाद हम अपनी सारी सेना को वंगदेश में ही छोड़कर राजधानी को लौट पड़े। कोणार्क का सम्मोहन व्याध की वंशी था और हम थे विवश मृग।"[25] कोणार्क मंदिर को देखकर कला-प्रेमी नरसिंहदेव विशु को बोल रहा है- "विशु, कोणार्क मंदिर को पूरा करके तुमने हमारे और उत्कल के गौरव को बढ़ाया है। यहाँ निकट से देखने पर तो प्रतीत होता है, मानो तुमने किसी जौहरी के गढ़े अलंकारों को पाषाण बना दिया हो और दूर से इस विमान और जगमोहन के शिखर हिमालय की चोटियों की स्पर्धा करते जान पड़ते हैं ....।"[26] नरसिंह देव कोणार्क की सुंदरता देखकर महेंद्र से बोल रहा है। "राजकवि विश्वनाथ से कहो, अपने 'साहित्य दर्पण' में कोणार्क का प्रतिबिंब खोजे।"[27]

शारदीया नाटक के प्रधान पात्र नरसिंहराव भी कलाप्रेमी है। उन्होंने शारदीया के लिए अनोखे साड़ियाँ बनाने की कला सीखी। वह भी पाँच तोले की निराली साड़ियाँ। इसके बारे में जिन्सेवाले सिंधिया महाराज से बोल रहा है- "आलीजाह, नरसिंह मामूली भेदिया नहीं है कलावंत है।"[28] अपनी बनाई हुई साड़ी के बारे में नरसिंह सिंधिया महाराज से बोल रहा है- "किसी दिन आपको दिखाऊँगा सिंधिया महाराज.... लट्टू हो जाएँगे आप। पाँच गज लंबी साड़ी पर वचन केवल पाँच तोले।"[29]

'कोणार्क' नाटक के प्रथम अंक में विशु मंदिर का कलश स्थापन में असमर्थ दिखाई देता है। लेकिन धर्मपद कलश स्थापना करने में सफल होता है। उसकी सफलता उसकी नई कलादृष्टि की परिचायक है। कला को जीवन के साथ जोड़कर देखता है और जीवन को अपनी संपूर्णता के साथ अपनाता है। समाज और कला की परस्परता पर वह अटल विश्वास करता है। धर्मपद विशु से कहता है- "मगर यह तो उचित नहीं कि जब चारों ओर अत्याचार और अकाल की लपटें बढ़ रही हो, शिल्पी एक शीतल और सुरक्षित कोने में यौवन और विलास की मूर्तियाँ ही वनाता रहे।"[30] वह कला को जीवन संघर्ष के चित्रण का माध्यम मानता है- "जीवन के आदि और उत्कर्ष के बीच एक और सीढ़ी है- जीवन का पुरुषार्थ, अपराध क्षमा हो आचार्य, आपकी कला उस पुरुषार्थ को भूल गई है। जब मैं इन मूर्तियों में बँधे रसिक जोड़ों को देखता हूँ तो मुझे याद आती है पसीने में नहाते हुए किसान की, कोसों तक धारा के विरूद्ध नौका खेनेवाले मल्लाह की, दिन-दिन भर कुल्हाड़ी लेकर खटनेवाले लकड़हारे की.... इनके बिना जीवन अधूरा है, आचार्य।"[31]

विशु के अनुसार बाहर कितना भी उत्पात मचे कलाकार उसके प्रति कुछ न सोचे क्योंकि राज्य की बातों में पड़ना शिल्पियों के लिए उचित नहीं। पूरे राज्य में अकाल पड़ा है, राजनैतिक-गुंड़ों से जनता ही नहीं, 1200 शिल्पी भी आतंकित हैं, उनकी जमीन छीनी जा रही है, कइयों की स्त्रियों को दासियों की तरह काम करना पड़ रहा है। कुल मिलाकर चारों ओर अत्याचार और अकाल की लपटें बढ़ रही हैं और शिल्पी एक शीतल और सुरक्षित कोने में यौवन और विलास की मूर्तियाँ बनाते हुए कला और जीवन की सार्थकता महसूस करने लगा है। विशु न केवल महान कलाकार है, बल्कि उसका संपूर्ण अस्तित्व कला साधना के लिए समर्पित है। मंदिर निर्माण और मूर्तिकला में वह सिद्ध हस्त है। विशु अपनी शिल्पकला के प्रति इतना समर्पित है कि वह कला को ही अपना जीवन मानता है। वह कला को श्लील और अश्लील के घेरे के परे मानता है। उसने मंदिर के स्तंभों, उपपीठ आदि कई भागों पर मनुष्य जीवन की सारी वासनाएँ, मनोरंजन और मुद्राएँ चित्रित की हैं। सारे जीवन का प्रतिविंब मंदिर पर अंकित किया गया है।

5. *भाव प्रवणता* -

शारदीया नाटक में प्रधान पात्र नरसिंहराव और बायजा बाई में भी भावुकता दिखाई देता है। बायजा की बाल्यकाल की प्रेमी है नरसिंहराव। दो साल के बाद नरसिंह बायजा को

मिलने आया है। बायजा की माँ के कहने पर वह पूँजी कमाने गया है। भावुक होकर वह बायजा को बोल रहा है- "बायजाबाई आज उत्सव में तुम्हें देखा तो लगा मानो परियाँ अपन रानी को धरती पर छोड़कर उड़ गई।"[32] कागल की याद में नरसिंह बोल रहा है- "बायजाबाई, मैं कागल गया था। कागल हम लोगों की जन्मभूमि ! कागल हम लोगों की पुण्यस्थली ! लेकिन देखा कि न वह कागल है न तुम।"[33] फिर वह भावुक होकर कह रहा है- "लेकिन चाहे मैं तुम्हारे निकट होता हूँ, चाहे तुमसे दूर, शरद की पूर्णिमा की तरह तुम मेरे मानस में छायी रहती हो। निर्मल, शीतल... मन के कोने-कोने को भासमान करती रहती हो गहरे अंधकार में मैंने मुस्काती चाँदनी का अनुभव किया है। बायजाबाई तुम्ही तो मेरी चाँदनी हो, मेरी शारदीया।"[34]

नरसिंहराव को राष्ट्रद्रोह के अपराध में मृत्युदंड़ मिला। लेकिन मित्र जिन्सेवाले के कहने पर महाराज ने नरसिंह की मृत्युदंड़ की सजा कम करके आजीवन कारागार कर दिया। तब वह उदास होकर जिंदगी से ही विरक्त हो गया। फिर भी अपनी शारदीया के लिए पंचतोलिया साड़ी बुनकर वक्त काटा। लेकिन अंत में महारानी बनकर आयी हुई शारदीया को देखकर वह हताश हो जाता है। भावुक होकर नरसिंह बोल रहा है- "रिहाई ! महारानी, किस जीवन के लिए रिहाई, किस नियामत के लिए रिहाई ? बायजाबाई इस तहखाने का आकाश सीमाहीन है, इसकी टिमटिमाती ज्योति में सहस्रों सूर्य भासमान हैं। क्या तुम भी नहीं समझोगी मेरी इस सीधी, गहरी बात को ?"[35]

'शारदीया' नाटक में बायजाबाई भी भावुक दिखाई देती है। नरसिंह निजाम के विरूद्ध युद्ध करने के लिए लौट जा रहे हैं। दो बरस के बाद बायजा को मिलने आए हुए नरसिंह को बायजा बोल रही है- "मेरे लिए तो अंगारे ही रहते हैं, नरसिंह ! कागल में शरद की वे चाँदनी रातें.... कब हमें वापस मिलेंगी नरसिंह ?"[36] बायजाबाई ऊँगली में घाव बनाकर रक्त का टीका नरसिंह को लगाती है और विजयी होकर वापस आने की कामना करती है।

बायजा अपनी परिचारिका सरनाबाई से पूछती है कान्हा के विरह में गोपियाँ रोती क्यों रही दिन रात ? मथुरा जाकर खोजा क्यों नहीं। लेकिन बायजा ऐसा करना नहीं चाहती वह बोल रही है- "सरनाबाई, मैं वह नहीं करना चाहती, जो गोकुल की गोपियों ने किया। आँसुओं में नहीं डूबूँगी....मैं जाऊँगी उनके पास।"[37] यहाँ भी भावुक लगती है। बायजाबाई सरनाबाई के

साथ भाग जाने की कोशिश करती है। खर्दा के युद्ध में नरसिंह मारा गया जैसा झूठा समाचार सुनकर बायजा सिसकने लगती है। अंत में महारानी हुई बायजाबाई नरसिंह को मिलने जाती है। वह नरसिंह को रिहाई देने की आज्ञा पत्र लेकर गई। लेकिन नरसिंह बायजा को खोकर रिहाई नहीं चाहता। वह बायजा को पंचतोलिया साड़ी भेंट देता है। तब भावुकता के साथ बायजा बोल रही है- "ओह ! यह साड़ी... यह दिव्य सौंदर्य.... कितनी बारीक, जैसे सबेरे का कुहासा, कितनी मुलायम जैसे नई कोपल, यह तुमने कहाँ पाई ?"[38]

'कोणार्क' नाटक में विशु में भी भावुकता दिखाई देती है। एक शबर कन्या के साथ विशु प्रेम करता है, लेकिन वह माँ बननेवाली है समझकर कुल और कुटुंब की भय से वह कायरता से भाग निकला। भुवनेश्वर में देव मंदिरों के निर्माण में मुँह छिपाने आया। सारिका के बारे में कहते वक्त वह भावुक हो जाता है और सौम्यश्री से बोल रहा है- "हाँ सौमू, वह वन की कली थी। जंगली शबर जाति की कन्या। चट्टान को फोड़कर बहनेवाली निर्द्वंद्व, निष्कलुष जलधारा।"[39] और फिर विशु बोल रहा है- "जब मुझे ज्ञात हुआ कि वह माँ बननेवाली है तो कुल और कुटुंब के भय ने मुझे ग्रस लिया। नदी पर बढ़ती साँझ की तरह उस भय की तंद्रा मेरी बुद्धि पर छा गई। और मैं भाग आया, सारिका और उसकी अजात संतान से दूर- बहुत दूर- भुवनेश्वर में देवमंदिर की छाया में- कला के आँचल में अपना मुँह छिपाने।"[40] सारिका के लिए कुछ भी कर नहीं पाने का दुःख उनके मन में है। अंत में जब विशु को पता चलता है कि धर्मपद उसका पुत्र है तब भी वह भाव विभोर हो जाता है। अब वह धर्मपद को फिर खोना नहीं चाहता। वह धर्मपद को बोल रहा है- "वह अभागा श्रीधर मैं ही हूँ। .....विशु तो मेरा छद्मनाम है, जो मैंने शबर अटीविका से भाग आने पर रख लिया था। मैं ही वह श्रीधर हूँ जिसके कारण तुम्हारी माँ को इतने कष्ट उठाने पड़े। मैं ही वह कठोर पापी, निर्दय तुम्हारा पिता हूँ, जिसने....।"[41] धर्मपद को वह फिर से सारिका के बारे में बोल रहा है- "मंदिरों का निर्माण करते-करते कभी-कभी सहसा मेरी आँखों के सामने अंधेरा छा जाता था। उस अँधेरे में न तो मैं मूर्तियाँ गढ़ सकता था और न आकार-प्रकार निश्चित कर पाता था; न पत्थरों को जीवित कर सकता था। तभी तुम्हारी माँ की मनोरम और तेजस्वी मूर्ति की झलक मिलती और उन किरणों से मुझे प्रकाश मिलता।"[42] संग्राम में जानेवाले धर्मपद को विशु रोकना चाहता है। लेकिन वह रूकते नहीं। तब वह सौम्यश्री से बोल रहा है- मेरे बंधु ! क्या किसी तरह

धर्मा को बचाया नहीं जा सकता ? मैं चालुक्य के आगे भीख माँगूंगा, मेरे बेटे के प्राण....''[43] चालुक्य के हाथों अपने पुत्र मारे जाने की खबर सुनकर वह विह्वल हो जाते हैं और प्रतिशोध करने के लिए तैयार हो जाता है। 'कोणार्क' मंदिर को तोड़ देता है। पूरे मंदिर को चालुक्य और उनके सैनिकों के ऊपर गिरा देता है।

धर्मपद में भी भावुकता दिखाई देती है। अंत में जब धर्मपद को पता चलता है कि विशु उसका पिता है तब वह भावुक होकर अपनी माँ के बारे में बोलता है- ''कैसी अद्भुत थी मेरी माँ ! .....आँधियों के निर्दय झकझोर से भी न झुकनेवाले तालवृक्ष की तरहा मुझे गोदी में लिए, बहुत पहले, जब वह नगर में आयी थी, तो कौन उसका सहायक था ? मजदूरी करके गरीबी के कष्ट और वैभव के अपमान सहकर, उसने मुझे पाला।'' ''माँ ने बहुत कुछ बताया, पर सब कुछ नहीं। उसने मुझे वह शक्ति दी, जिसके बल पर नन्हा बीज धरती को फोड़कर नए जीवन का प्रतीक बनता है। उसने मुझे आँचल से ढँका भी और छुड़ाया भी। उसकी ओजमयी वाणी मेरे कानों में गुँजी रही है- आप लोग सुन पाते हैं ?''[44]

भावना का आवेग 'पहला राजा' नाटक के पृथु में भी है। किंतु अन्य पात्रों की तुलना में वह बौद्धिक संतुलन से परिपूर्ण है। पृथु का आवेग कर्म, काम, दुविधा और तनावों की विभिन्न दिशाओं में बँट जाता है। वह बाहर से चट्टान की तरह लगता है। किंतु जब अर्चना उसके हृदय में प्रवेश करती है तो वह पुलक-कंप से रोमांचित हो उठता है और देह के सागर को एक अंजुली में भर लेता है। ''आओ हिल्लोर उठ रही है। एक ही उठान में तुम्हारी धरती का आलिंगन और गगन की हलचल।''[45] और भी कई स्थलों पर वह भावुकता का जीवन जीता है। भूचंडी का पीछा करते हुए पृथु स्वप्न देखता है। ''अर्चना, क्या मानी हैं उस विलक्षण सपने के ? मैंने देखा कि मैं उस पिशाचिनी भूचंड़ी का पीछा कर रहा हूँ। मेरा तीर उस पर छूटनेवाला ही है कि सहसा वह रूप बदल लेती है- गौ का रूप।''[46] सूत और मागध की प्रशंसा सुनकर पृथु बोल रहा है- ''आपने मुझे राजा बनाना स्वीकार किया। इसके लिए मुझे स्तुति नहीं, आपका सहयोग चाहिए। वाणी का विलास नहीं; कर्म का उल्लास चाहिए। बिना मेहनत के तारीफ मुझे उतनी ही अशोभनीय लगती है जितनी बिना बुराई की निंदा।''[47] बाँध के टूटने पर पृथु भावुक बन जाते हैं- ''ओ दुविधाओं के देवता, तू जिसे यज्ञ पुरुष कह जाता है- तू जिसे जगत् का विधाता कहते हैं- तू

परब्रह्म ! मैं जानता हूँ कि शक्ति तेरी नहीं मेरी है। फिर भी तेरे आगे हाथ फैलाता हूँ। हजारों टहनियाँ और शाखाएँ किसी आकाश वृक्ष पर फैली हैं। मेरी निगाह अंतरिक्ष के उस अनंत फलफूलवाले वृक्ष से हटा दे। पृथ्वी पर जो जीर्ण शीर्ण पते बिखरे हैं उन्हीं में खोजने दे, उसे जो मेरी सहचरी थी, मेरी प्राण थी.... और.... थी मेरी माँ ! ....उर्वी, माँ....माँ।''[48]

6. घृणा का भाव -

'पहला राजा' नाटक में तीनों मुनि घृणा का पर्याय है। वह आर्य कुल के प्रतिष्ठाता हैं। वह रक्त की शुद्धता चाहते हैं। आर्य और नार्य जाति का मेल वह नहीं चाहता। इसलिए शुक्राचार्य ने वेन के निषाद पत्नी को वन भेजा था। मुनिगण आर्य जाति के रक्त की शुद्धता अपनी मर्यादा समझता है। वेन ने उस मर्यादा का उल्लंघन किया। इसलिए मुनिगण वेन का जिंदा रहना अपना अपमान समझा। अपने मंत्रपूत कुशा से वेन का वध कर डाला और शुक्राचार्य ने वेन की निषाद पत्नी को हिमालय के त्रिगर्त भेजा। ताकि वेन की निषाद संतान ब्रह्मावर्त से दूर रहे। त्रिगर्त में वेन के पिता ने उस निषाद नारी को शरण दिया। शुक्राचार्य बोल रहा है- ''मैं ने ही तो उसे वहाँ रातों रात भेजा था ताकि वेन की निषाद संतान ब्रह्मावर्त से दूर ही रहे।''[49] आश्रम पर दस्युओं और डाकुओं के आक्रमण से मुनिगण परेशानी में हैं। वह वेन के बाद नया शासक के तलाश में है। लेकिन वेन की माँ सुनीथा ने वेन के शव को चमत्कारपूर्ण लेपन कर उस पर प्राण वापस आने के लिए योग्य रखा है। राज माता सुनीथा से मुनिगण नफरत करते हैं।

मुनिगण के अनुसार राजा का मतलब है अनुरंजक- ''राजा यानी अनुरंजक ! हम जिसे राजा घोषित करेंगे वह हमारा अनुरंजक और धर्म का रक्षक होगा, इसलिए नहीं कि उनमें ईश्वर की शक्ति या देवताओं के तेज का स्वरूप है, बल्कि इसलिए कि उसके अधिकारों की बुनियाद होगा हमारा दिया हुआ विधान, हमारी बाँधी गई शर्तें।''[50] मुनिगण के मन में कवष के प्रति घृणा का भाव है क्योंकि वह एक निषाद है। मुनिगण यज्ञ करते हैं लेकिन धरती में जल नहीं, नमी नहीं और धरती पर अकाल पड़ा है। मुनिगण इसका कारण भूचंड़ी बताता है। दस्युओं के खंड़हरों में भूचंड़ी का भयंकर पूजन कर रहा है। उस पूजन को नष्ट करने के लिए मुनिगण पृथु को बोल रहा है और साथ में यह भी बताते हैं कि पूजन का नेतृत्व कवष कर रहा है। ''प्रजा की पीड़ा, हमारी चिंता, आपका क्रोध तीनों का एक ही लक्ष्य है राजन, एक ही कारण भूचंड़िका। धरती की

दानवी।"[51] मुनिगण निषाद को आश्रम से निकाल देता है। इसका कारण वह बताता है कि "आर्यकुल की प्रतिष्ठा को लेकर निषाद को आश्रम से निकालना ही था राजन।"[52] यहाँ सब मुनिगण के घृणा भाव ही प्रकट होते हैं।

शुक्राचार्य बोल रहा है निषाद (कवष) ने भूचंड़ी के पूजन की रक्षा कर रहा है। मुनिगण पृथु को प्रजा के असीम प्यार और लोकप्रियता से दूर रखना चाहता है। क्योंकि उन लोगों को डर है कि पृथु की शक्ति बढ़ेगी। तब पृथु को रोकना किसी को भी संभव नहीं होता। पृथु बाँध का काम तुरंत पूरा करने के लिए तीन सौ मजदूर माँगते हैं। लेकिन शुक्राचार्य मजदूर देने के लिए तैयार नहीं है बल्कि काम में लगे हुए मजदूरों को वापस बुलाना चाहता है। शुक्राचार्य बोल रहा है- "आत्रेय आश्रम और भृगु आश्रम दोनों अच्छी तरह समझ ले कि दृषद्वती का यह बाँध पूरा होते ही- सौवें यज्ञ की पूर्ति होते ही- राजा पृथु, हम लोगों को दूध की मक्खी की तरह निकाल फेकेंगा। और ....उसके मंत्रिमंडल में होंगे जंघापुत्र कवष और दस्यु सुदंरी उर्वी।"[53] यहाँ भी मुनिगण के साधारण जनता के प्रति घृणा भाव प्रकट होता है। अत्रि मुनि बोल रहा है- धन्य है शुक्राचार्य, तुम्हारी शुक्रनीति। ....प्रजा अब हम लोगों की मुट्टी में होगी। भृगुवंशी मानता हूँ तुम्हारा लोहा। मुनिगण में शुक्राचार्य ही ज्यादा स्वार्थी है।

शारदीया नाटक में सर्जेराव घाटगे एक ऐसा पात्र है जिन्होने सिंधिया महाराज के दीवान बनने की लालच में आकर अपनी बेटी की कुरबानी देता है। बायजा अपनी और नरसिंह के प्रेम को उससे बोलते वक्त सर्जेराव क्रुध होकर बायजा से कहता है- "किसका वायदा ? कैसा वायदा ? मैं नहीं जानता, तेरी माँ ने क्या वायदा किया था ! मैं इतना जानता हूँ कि तुझे मेरी आज्ञा माननी है, माननी होगी। नादान लड़की ! तेरे पिता की महत्त्वाकांक्षा कागल पर ही नहीं रूकेगी। उस महत्त्वाकांक्षा के यज्ञ को पूरा करने के लिए अगर तेरी आहुति की जरूरत हो तो भी मैं नहीं झिझकूँगा।"[54] सर्जेराव ने सिंधिया महाराज को अपने वश में बनाकर नरसिंह को राज्यद्रोही बनाता है और छल से मृत्युदंड़ दिलवाता है। यहाँ सर्जेराव की क्रुरता जान पड़ती है। वह अपनी बेटी को झूठ बोलता है कि नरसिंह खर्दा के युद्ध में मारा गया। सिंधिया महाराज को अपनी बेटी पर भ्रम है यह जानकर ही सर्जेराव नरसिंह के साथ कूटनीति अपनाता है। सर्जेराव अपनी बेटी को महारानी बनाकर उसका फायदा उठाता है। इस प्रकार सर्जेराव में घृणा का भाव दिखाई देता है।

'कोणार्क' नाटक में महामात्य चालुक्य शिल्पी, मजदूर और दीन-हीन जनता पर घृणा करते हैं। कोणार्क मंदिर को अपूर्ण देखकर वह धमकी देता है कि एक सप्ताह में कोणार्क मंदिर पूरा न हुआ तो शिल्पियों के हाथ काट दिए जाएँगे। उन्होंने कारीगरों को मुद्राओं का पुरस्कार देना बंद किया। शिल्पियों की जमीन छीन ली। कईयों की स्त्रियों को दासियों की तरह काम करना पड़ता है। चालुक्य रोष के साथ बोल रहा है- "बरसों से बिन माँगी प्रशंसा सुनते-सुनते तुम अपने को दंड़विधान से परे समझने लगे हो। आज मैं तुम्हारे इस घमंड़ को चूर करने ही आया हूँ। ....सुन लो और कान खोल कर सुन लो! आज से एक सप्ताह के अंदर यदि कोणार्क देवालय पूरा न हुआ, तो तुम लोगों के हाथ काट दिए जाएँगे।"[55] यहाँ महामात्य चालुक्य की क्रूरता दिखाई देती है। चालुक्य महाराजा नरसिंहदेव के साथ भी कुटनीति अपनाता है वंशदेश से विजयी होकर चालुक्य रथ की धूरी टूटने का बहाना बनाकर पीछे रूकता है। महाराज कोणार्क मंदिर देखने के लिए आतुर होकर मंदिर पर आ पहुँचा। लेकिन चालुक्य दंड़पाशिक और सारे सैनिकों पर कब्जा कर लिया था। वह मंदिर को आक्रमण कर महाराज को बंधी बनाकर खुद महाराज बनना चाहता है। चालुक्य खुद कलिंग नरेश घोषित करता है। रात को युद्ध विराम होता है, लेकिन चालुक्य रात को फिर से आक्रमण करता है। यहाँ चालुक्य का घृणा भाव दिखाई देता है।

7. *त्याग की भावना -*

'कोणार्क' में विशु एक ऐसा पात्र है उसमें त्याग की भावना खूब दिखाई देती है। दस दिन के कठोर परिश्रम के बाद भी वह मंदिर के ऊपर कलश स्थापित कर न पाया। उसी वक्त आया हुआ धर्मपद की चतुरता से कलश स्थापित किया। विशु ने वादा किया था कि अगर कलश स्थापित करने में कामयाब हो जाए तो एक दिन के लिए नहीं सभी दिनों के लिए प्रधान शिल्पि का पद उन्हें मिलेगा। यहाँ विशु की त्याग की भावना ही प्रकट होती है। "अगर कोणार्क पूरा हो जाता है तो एक दिन क्या सभी दिनों के लिए वे अधिकार तुम्हारे हो जाएँगे। मैं तुम्हें अपने स्थान पर प्रधान शिल्पी बना दूँगा।"[56] यहाँ विशु की त्याग की भावना ही दिखाई दे रही है। विशु एक शबर कन्या से प्यार करता था। लेकिन जब वह माँ बननेवाली है यह समझने के बाद कुल और कुटुंब के भय से वह प्रेयसी को छोड़कर आया। यहाँ भी विशु की त्याग की भावना दिखाई दे रही है।

'शारदीया' नाटक में नरसिंहराव और बायजा में भी त्याग की भावना है। दोनों एक-दूसरे को प्यार करते हैं। सर्जेराव की चाल में फंसकर उस पर राष्ट्रद्रोह का इलजाम लगाता है और आजीवन कारागार की सज़ा मिलती है। वह कारागार में शारदीया के लिए पंचतोलिया साड़ी बुनता है। अंत में जब उसको पता चलता है कि बायजाबाई ही महारानी है तब वह बायजा को बोल रहा है- "बायजाबाई, इस तहखाने का आकाश सीमाहीन है, इसकी टिमटिमाती ज्योति में सहस्रों सूर्य भासमान हैं। क्या तुम भी नहीं समझोगी मेरी इस सीधी, गहरी बात को।"[57] अपने पिता ने स्वार्थ के लिए जो कुछ किया उन सारी बातों को नरसिंह के सामने वह खोल देती है। अपने प्रेमी के निकट होकर भी वह अपने उस मधुर मिलन की सपनों को पूरा नहीं कर सकती। इस मौके पर नरसिंह बायजाबाई को पंचतोलिया साड़ी भेंट करता है। अपने भूतपूर्व प्रेमी ने अपनी ऊँगली में सूराख करके अपने लिए साड़ी बुनी और आज उसे वह भेंट कर रहा है। यह देखकर वायजा की आँखों से आँसू बहने लगते हैं। नरसिंह बायजा को बताता है- "तुम रो रही हो, बायजाबाई। रोती क्यों हो ? तुम्हारे टीके ने मुझे बचाया। ....और ....यह ....साड़ी .....यह मेरा रक्तदान ....यह अंचल ....यह ....तुम्हारे नये जीवन में तुम्हारी रक्षा करें।"[58] बायजाबाई का दिल पीड़ा से भर उठता है। वह उसे फिर से रिहाई की बात कहती है। लेकिन नरसिंह तहखाने से बाहर नहीं आता। यहाँ दोनों की एक-दूसरे के प्रति त्याग की भावना हमें दिखाई देती है। उन दोनों में एक-दूसरे के प्रति जो प्यार है वह वासनामय नहीं बल्कि भावनात्मक है।

8. विद्रोह की भावना -

'कोणार्क' नाटक में धर्मपद विद्राही ही है। वह पलायन की अपेक्षा कला में अंतर्ग्रस्त होता है। महामात्य द्वारा शिल्पियों पर किए गए अत्याचार, भृत्यों की भूमि के अपहरण, अकाल आदि यथार्थ स्थितियों के प्रति वह जागरूक रहता है। अत्याचारी के विरूद्ध संघर्षरत होते हैं। धर्मपद शोषण और अत्याचार के विरूद्ध विद्रोह के स्वर को उठाता है। धर्मपद शोषण के विरूद्ध जनवादी चेतना उठाता है। शिल्पियों पर किए जा रहे महामात्य राजराज चालुक्य के आर्थिक शोषण का वह प्रबल विरोध करता है- "बहुत हुआ, बहुत हुआ दूत ! क्या हम लोग भेड़ बकरियाँ हैं, जो चाहे जिसके हवाले कर दी जाएँ ? आज ही तो हमारे भाग्य का फैसला है। जिस सिंहासन को तुम आज डाँवाड़ोल कर रहे हो, वह हमारे ही कंधों पर टिका है, क्या उस पर वह

बैठेगा, जिसके कारण सैंकड़ों घर उजड़ चुके हैं। वह जिसने कोणार्क के सौंदर्य निर्माता शिल्पियों को ठोकरों से तुच्छ मान ठुकराया ? कलिंग हमारा है और उसके अधिपति हैं हमारे प्रजावत्सल नरेश श्री नरसिंहदेव ।''[59] धर्मपद सामंतीय शोषण में शोषित जनता की स्थिति को बार-बार उद्घाटित करता है- ''मैं तर्क करने नहीं आया हूँ। मैं तो एक ऐसे संसार की ओर आप का ध्यान खींचता हूँ कि आपके निकट होते हुए भी आपकी आँखों से ओझल हो गया है। इस मंदिर में बरसों से 1200 से ऊपर शिल्पी काम कर रहे हैं। इनमें से कितनों की पीड़ा से आप परिचित हैं ? जानते हैं आप कि महामात्य के भृत्यों ने उनमें से बहुतों की जमीन छीन ली है। कइयों की स्त्रियों को दासियों की तरह काम करना पड़ा और उधर सारे उत्कल में अकाल पड़ रहा है।''[60]

द्वितीय अंक में धर्मपद का चरित्र प्रभावोत्पादक पड़ता है। महाराजा, नरसिंहदेव के कोणार्क मंदिर को देखकर विशु को रत्नमाला भेट देने को तैयार हो उठते हैं। उसी समय धर्मपद का प्रवेश होता है। शोषण और अत्याचारों को सहकर भी राजा की जयजयकार करनेवाले असंख्य मजदूरों की अव्यक्त पीड़ा को स्पष्ट करते हुए धर्मपद कहता है- ''देव झुरमुट की ओंट में चहकनेवाले पक्षी का स्वर सर्वदा हर्षगान ही नहीं होता। आपको क्या मालूम कि उस जयजयकार के पीछे हाहाकार चुपचाप सिसक रहा था ?''[61] इस प्रकार चालुक्य के अन्याय का विरोध वह खुलकर करता है। श्रृंगार मूर्तियों को देखकर धर्मपद विशु से कहता है- ''जीवन के आदि और उत्कर्ष के बीच एक और सीढ़ी है- जीवन का पुरुषार्थ।''[62] महामात्य चालुक्य के दूत ने संदेश लेकर आया और महाराज को चुनौती देता है तब धर्मपद विद्रोह के स्वर में उसकी चुनौती स्वीकार करता है- ''तो सुनो शैवालिक अपने नये स्वामी के पास यह अंगारोंभरा संदेश ले जाओ कि कलिंग नरेश श्री नरसिंहदेव महाराज, अत्याचारी विश्वासघातियों की धमकियों की चिंता नहीं करते। वे आज अकेले नहीं हैं, आज उनके पीछे वह शक्ति है, जिससे धरती थर्रा उठेगी, दीन-निर्धन प्रजा की शक्ति, जो कोणार्क के शिल्पियों और मज़दूरों में दुर्दम सेनाओं का बल भर देगी। कोणार्क का मंदिर आज दुर्ग का काम देगा। जाओ, हमें चुनौती स्वीकार है।''[63] धर्मपद शोषण और अत्याचार के विरूद्ध विद्रोह के स्वर को उठाता है। द्वितीय तथा तृतीय अंक में राजराज चालुक्य जब षड़यंत्र कर कोणार्क पर हमला करता है और राज सत्ता पर अपना अधिकार करने की

कोशिश करता है, तब सभी शिल्पी तथा मजदूर धर्मपद के नेतृत्व में महाराज नरसिंहदेव की रक्षा करते हैं।

नाटक के अंत में विशु भी विद्रोही बन जाता है। धर्मपद की मृत्यु सुनकर विशु मंदिर को तोड़ डालता है। इस टूटन में विशु का कला और जीवन के प्रति अर्थहीनता का बोध व्यक्त होता है। "प्रतिशोध.... मेंरे देवता ! ....मेरे दिवाकर, शिल्पी का प्रतिशोध....।"[64] नाटक के अंत में विशु के जीवन में प्रतिशोध के सामने नाश और निर्माण एकाकार हो जाते हैं।

'शारदीया' नाटक में नरसिंहराव भी विद्रोही पात्र है। लेकिन यहाँ नरसिंहराव मौन विद्रोह करता है। सर्जेराव की षड्यंत्र का शिकार हुए नरसिंहराव को आजीवन कारागार की सजा मिल जाती है। नरसिंह यहाँ मौन विद्रोह करता है। वह जिन्सेवाले को बोल रहा है- "मैं मौत की उम्मीद का सहारा ले रहा था। आपने उसे तोड़ दिया.... और अब यह जिंदगी। यह गुफा की घिरी घिरी जिंदगी। किस के लिए ?"[65] महारानी बनी बायजाबाई नरसिंह को मिलने आयी है। तब वह नरसिंह को रिहाई देने की बात करती है। तब वह बोल रहा है- "रिहाई ! महारानी, किस जीवन के लिए रिहाई, किस नियामत के लिए रिहाई ?"[66] नरसिंह का विद्रोह ही यहाँ दिखाई देता है।

9. व्यक्तिवादी चेतना -

धर्मपद व्यक्तिवादी है। वह शिल्पी और साधारण जनता की पीड़ा सह नहीं पाता। धर्मपद शोषण के विरूद्ध व्यक्तिवादी चेतना का प्रतीक है। शिल्पियों पर किए जा रहे महामात्य चालुक्य के आर्थिक शोषण का वह प्रबल विरोध करता है- "बहुत हुआ, बहुत हुआ दूत। क्या हम लोग भेड़-बकरियाँ हैं; जो चाहे जिसके हवाले कर दी जाएँ ? आज ही तो हमारे भाग्य का फैसला है। जिस सिंहासन को तुम आज डाँवाड़ोल कर रहे हो वह हमारे ही कंधों पर टिका है, क्या उस पर वह बैठेगा, जिसके कारण सैंकड़ों घर उजड़ चुके हैं। वह जिसने कोणार्क के सौंदर्य-निर्माता शिल्पियों को ठोकरों से तुच्छ मान ठुकराया ? कलिंग हमारा है और उसके अधिपति हैं हमारे प्रजावत्सल नरेश श्री नरसिंहदेव।"[67] धर्मपद सामंतीय शोषण में शोषित जनता की स्थिति को बार-बार उद्घाटित करता है- "मैं तर्क करने नहीं आया हूँ। मैं तो एक ऐसे संसार की ओर आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ जो कि आपके निकट होते हुए भी आप की आँखों से ओझल हो गया है।

इस मंदिर में बरसों से 1200 से ऊपर शिल्पी काम कर रहे हैं। इनमें से कितनों की पीड़ा से आप परिचित हैं ? जानते हैं आप कि महामात्य के भृत्यों ने उनमें से बहुतों की जमीन छीन ली है और उधर सारे उत्कल में अकाल पड़ रहा है। यहाँ धर्मपद की व्यक्तिवादी चेतना दिखाई देती है।

धर्मपद कला को जीवन के साथ जोड़कर देखता है और जीवन को अपनी संपूर्णता के साथ अपनाता है। समाज और कला की परस्परता पर वह अटल विश्वास करता है। इसलिए पहले वह महाशिल्पी विशु को महामात्य के द्वारा जनता पर होनेवाले अत्याचारों से अवगत करा कर उसमें दायित्व बोध भरने की कोशिश करता है, क्योंकि वह चाहता है शोषणपूर्ण अत्याचारी व्यवस्था से वह महाराजा नरसिंहदेव को अवगत करें। इसके साथ शिल्पियों तथा पीड़ित जनता को अपने अधिकार प्राप्त हो। वे शोषण मुक्त हों। उनके अनुसार शोषण मुक्त जीवन ही कला का मूल प्रयोजन है। इसलिए शोषण में अनजाने रूप में भी सहायक कला की वह प्रताड़ना करता है। महाराज नरसिंह देव के सामने राजराज चालुक्य के अत्याचारों को प्रस्तुत कर हर्ष और उल्लास के प्रतीक कोणार्क के संदर्भ में कहता है- "क्षमा करें देव ? न जाने कितनी आहें हमारे इस सौंदर्य सदन के चरणों और चोटी से टकराकर बिखर रहा है।"[68]

धर्मपद का कलाकार व्यक्तिवादी चेतना से युक्त है। स्थितियों से पलायन की अपेक्षा उनका मुकाबला करना उसके कलाकार की अपनी पहचान है। इसलिए हाथ काटने की धमकी से न तो स्वयं विचलित होता और न उनके साथी। वह कहता है- "निर्दय अत्याचार की छाय में ही जो विकसित और मुरझाते हैं, उनको एकाध विपत की घड़ी के लिए तैयार होने की जरूरत नहीं।"[69] कला उसके लिए जीवन भी है और जीवन के लिए भी है; पिता विहीन धर्मपद को बचपन से ही जीने के लिए संघर्ष उसकी माँ से प्राप्त है। संघर्ष की हर घड़ी में माँ द्वारा प्रदत्त अनुभूति- आलोक उसका मार्ग प्रशस्त करती है। द्वितीय अंक में महामात्य राजराज चालुक्य षड्यंत्र के सहारे राजसत्ता प्राप्त कर कोणार्क में महाराजा नरसिंह देव को चारों ओर से घेर लेता है और दूत द्वारा उन्हें आत्मसमर्पण करने का संदेश भेजता है, तब धर्मपद भयभीत नहीं होता। धर्मपद अपने शिल्पियों-मजदूरों की असीम शक्ति को पहचानता है। व्यक्तिवादी सौंदर्य चेतना ने इन लोगों के भीतर की शक्ति को सुलाया था। धर्मपद उसी शक्ति को जगाने में अपने कलाकार की सार्थकता समझता है। विशु की कला जीवन के जिस पुरुषार्थ को भूल गई थी, धर्मपद की कला

उसी पुरुषार्थ को अपनी सार्थकता मानता है। अपने शिल्पियों-मजदूरों तथा धनुष्य पत्थरों के बल धर्मपद कोणार्क और नरसिंहदेव की रक्षा करने का संकल्प है। साथ ही कला और कलाकार के दायित्व बोध का परिचायक भी।

तृतीय अंक में रात में युद्ध निषिद्ध होने के बावजूद महामात्य कोणार्क की दीवार ढहाकर आक्रमण करता है। तब धर्मपद अपनी बलि देकर भी अपने दायित्व की रक्षा करता है। वह भी उस समय जब उसे यह पता चलता है कि महाशिल्पी विशु उसके पिता हैं। बचपन से पिता से बिछड़ कर अनेक कठिनाइयों को पार कर महान शिल्पी बनी और अब तो उसके पिता भी मिले। एक ओर वात्सल्य ममता और दूसरी ओर दायित्व बोध व्यक्तित्व भावों की अपेक्षा वह अपने दायित्व को महत्त्व देता है। ममतावश उसे रोकनेवाले पिता विशु से संबोधित करते हुए धर्मपद कहता है- "तात ! मैं जानता हूँ आप कायर नहीं हैं, पर मेरा मोह आपको दुर्बल बना रहा है। तात, जाते-जाते आपको याद दिलाऊँ कि आप पिता होने के पूर्व शिल्पी हैं, कारीगर हैं.... आज शिल्पी पर अत्याचार का प्रहार हो रहा है। कला पर मदांधता टूट रही है। सौंदर्य को सत्ता पैरों के तले रौंद रही है और कोणार्क अपना सुनहरा सपना, जिस घोंसले में आपके अरमानों का पंछी बसेरा लेने जा रहा था.... वही कोणार्क इस पामर, अत्याचारी के हाथ का खिलौना बन जाएगा। आतंक के हाथों में जकड़ी हुई कला सिसकेगी। वही कारीगर की सबसे बड़ी हार होगी। सबसे भारी हार।"[70]

शारदीया नाटक में नरसिंहराव में भी व्यक्तिवादी चेतना दिखाई देती है। वह राष्ट्र के लिए युद्ध करना अपना कर्तव्य मानता है। निजाम के विरूद्ध अपने राष्ट्र के बचाव के लिए वह लड़ रहा है। वह हिंदू हो या मुसलमान सबको खुश रखना चाहता है। वह सिंधिया महाराज से विनंती करता है कि युद्ध विजय के बाद मराठा और निजाम राज्यों में स्पष्ट शब्दों में दो घोषणाएँ करा दें- "पहली घोषणा तो यह कि दोनों राज्यों में हिंदू और मुसलमानों को अपने धर्म काज करने की पूरी आजादी होगी, न दखन में गोवध होगा, न महाराष्ट्र में खुदापरस्ती पर रोकटोक। और दूसरी घोषणा यह कि हिंदू और मुसलमान दोनों परमात्मा की एक बराबर संतान हैं। इसलिए न हिंदू मंदिरों पर आघात होगा, न मुसलमान मज़ारों, पीरों और पैगंबरों का अपमान किया जाएगा। दोनों एक-दूसरे के साथ मेल-मिलाप से रहेंगे - एक माँ की गोदी में दो भाई।"[71]

10 प्रेम की भावना -

'कोणार्क' नाटक में शिल्पी विशु अपनी टूटी हुई प्रेम को भूलने के लिए भुवनेश्वर में देव मंदिर के निर्माण में लगे हुए हैं। शबर अटीविका में रहनेवाली सारिका नामक कन्या से वह प्यार करता था। वह उसके नगर में हाट के दिन, अपने गाँववालों के साथ, जंगली छाल, जड़ियाँ बेचने आती थी। लेकिन जब उसको पता चला कि वह माँ बननेवाली है तब कुल और कुटुंब के भय से विशु ने उसको छोड़कर भुवनेश्वर में भाग आया। कला के आँचल में मुँह छिपाकर रह जाता है। विशु बोल रहा है- "जैसे स्वर और ताल एक-दूसरे पर रीझते हैं ! वह मदभरे पावस-सी उन्मत्त थी, पृष्पावृत कामनी-तरू-सी संपन्न !"[72] सारिका विशु को हमेशा प्रेरणा रही। वह धर्मपद से बोल रहा है- "मंदिरों का निर्माण करते-करते कभी-कभी सहसा मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता था। उस अँधेरे में न तो मैं मूर्तियाँ गढ़ सकता था और न आकार प्रकार निश्चित कर पाता था। न पत्थरों को जीवित कर सकता था। तभी तुम्हारी माँ की मनोरम और तेजस्वी मूर्ति की झलक मिलती है और उन किरणों से मुझे प्रकाश मिलता।"[73] यहाँ विशु को अपनी प्रेम कायरता के कारण खोना पड़ा।

शारदीया नाटक में नरसिंहराव किलेदार की बेटी बायजा के साथ प्रेम करता है। बायजा की माँ के कहने पर नरसिंह पूँजी कमाने के लिए कागल छोड़कर गया। पूँजी कमाकर दो साल के बाद जब लौट आता है तब बायजा की माँ नहीं रही। एक शरद पूर्णिमा के दिन वह बायजा को मिलने आया है- "बायजाबाई, आज उत्सव में तुम्हें देखा तो लगा मानो परिया अपनी रानी को धरती पर छोड़कर उड़ गई।"[74] नरसिंह फिर लौट जाने की बात कर रहा है। उसको अब दूसरी पूँजी जमा करनी है, वह है निजाम को पराजित करना। वह बायजा से विदा लेता है- "लेकिन चाहे मैं तुम्हारे निकट होता हूँ, चाहे तुमसे दूर, शरद की पूर्णिमा की तरह तुम मेरे मानस में छायी रहती हो। निर्मल, शीतल.... मन के कोने-कोने को भासमान करती रहती हो। गहरे अंधकार में मैंने मुस्काती चांदनी का अनुभव किया है। बायजाबाई, तुम्ही तो मेरी चाँदनी हो, मेरी शारदीया।"[75]

खर्दा युद्ध में सर्जेराव के कूटनीति के कारण नरसिंहराव राष्ट्रद्रोह के अपराध में पकड़ा जाता है। उन्हें मृत्यु दंड़ की सजा मिली। ग्वालियर के सरदार जिन्सेवाले के अनुरोध पर सिंधिया महाराज ने उस के मृत्यु दंड़ से मुक्त कर, आजीवन कारागार कर दिया। लेकिन बायजा

को नरसिंह के बारे में कुछ पता नहीं मिला। सर्जेराव ने कहा कि नरसिंह युद्ध में मारा गया। वह दुश्मन की तरफ से लड़ रहा था। सर्जेराव ने अपनी बेटी के सौंदर्य को अपनी महत्वाकांक्षा पूरी करने का साधन बनाया। महारानी बनी बायजाबाई कारागार में नरसिंह को मुक्त करने के लिए जाती है। नरसिंह कारागार में शारदीया के लिए पंचतोलिया साड़ी बुनकर वक्त काटता है। उसको पता नहीं है कि बायजाबाई ही महारानी है। नरसिंह जिन्सेवाले को बोल रहा है- ''नहीं सरदार ! क्या आप नहीं जानते कि आज शरद पूर्णिमा है और किसके दर्शन का मैं आज भिखारी हूँ ? ....उसके पास था, बहुत पास, लेकिन आप लोगों ने.... ओह.... शारदीये।''[76] अंत में बायजा को खोकर नरसिंह रिहाई नहीं चाहता। ''और मैं यही रहूँगा, क्योंकि तुम यही हो। महारानी नहीं, बायजाबाई नहीं, लेकिन तुम ! तुम, मेरी शारदीया ! मेरी शारदीया.... तुम, जो मेरी हो, हमेशा थी, हमेशा रहोगी।''[77]

बायजाबाई नरसिंह की प्रेयसी है। नरसिंह और बायजा के संवादों द्वारा उनका प्यार स्पष्ट होता है। नरसिंह युद्ध के मैदान में जाने के लिए बायजाबाई से विदा लेता है। तब बायजाबाई अपनी ऊँगली में कटार से घाव करती है और नरसिंह के मस्तक पर रक्त का टीका लगाती है, विजयी होकर आने के लिए। नरसिंह के युद्ध क्षेत्र में जाने से पहले उससे एक बार मिलने की बात बायजा कहती है। नरसिंह उसे कहता है- ''हमारे विदा वियोग के लंबे पथ पर शरदपूर्णिमा चांदी बिखेर देती है।'' तब बायजा कहती है- ''मेरे लिए तो अंगारे ही रहते हैं, नरसिंह। कागल में शरद की वे चांदी रातें.... कब हमें वापस मिलेंगी नरसिंह ?''[78] इस तरह बायजा विदाई के समय पर अत्यंत विह्वल हो उठती है। उसका एकनिष्ठ प्रेम उमड़ पड़ता है।

नरसिंह के प्रति बायजाबाई का प्रेम उत्कट बन पड़ा है। अपने प्यार के बारे में अपने पिता को बताने के लिए जब सरनाबाई तैयार नहीं होती तब वह स्वयं अपने मन की बात सर्जेराव से कहती है। बायजाबाई का नरसिंह के प्रति प्यार देखकर सर्जेराव क्रोधित होता है। वह अपनी महत्वाकांक्षा के लिए अपनी बेटी के जीवन की आहुति देना चाहते हैं। बायजाबाई को यह बात मंजूर नहीं है। वह सर्जेराव से कहती है- ''मुझे मरण का आदेश दो बाबा, लेकिन नरसिंह को....''[79] यहाँ बायजाबाई अपने प्राणों की आहुति देने के लिए तैयार होती है। यहाँ बायजा का

एक प्रेयसी का सुंदर रूप बन पड़ा है, जो अपने प्यार को पाने के लिए कुछ भी करने को तैयार होती है। अपने प्राणों से भी अधिक वह अपने प्रेम को चाहती है।

अंत में बायजाबाई महारानी बनकर आती है। सर्जेराव ने अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए सिंधिया के साथ बायजा की शादी करके दीवान का पद हासिल किया है, सिंधिया महाराज से बायजा को पता चलता है कि नरसिंह ग्वालियर में बंदी बनाया गया है। अपने पिता की सारी साजिशों का पता उसे लगता है। वह नरसिंह से मिलने के लिए शरद पूर्णिमा के दिन जाती है। दोनों की मुलाकात होती है। अपने पिता ने स्वार्थ के लिए जो कुछ किया उन सारी बातों को नरसिंह के सामने वह खोल देती है। अपने प्रेमी के निकट हो कर भी वह अपने उस मधुर मिलन के सपने को पूरा नहीं कर सकती। इस मौके पर नरसिंह बायजाबाई को पंचतोलिया साड़ी भेंट करता है। अपने भूतपूर्व प्रेमी ने अपनी ऊँगली में सूराख करके अपने लिए साड़ी बुनी और आज उसे वह भेंट कर रहा है। यह देखकर वायजा की आँखों में आँसू बहने लगते हैं। बायजावाई का दिल पीड़ा से भर उठता है। वह उसे फिर से रिहाई की बात कहती है। उसे आज्ञापत्र के बारे में भी कहती है। लेकिन नरसिंह तहखाने से बाहर नहीं आता। यहाँ दोनों की एक-दूसरे के प्रति त्याग की भावना दिखाई देती है। उन दोनों का एक-दूसरे के प्रति जो प्यार है वह वासनामय नहीं बल्कि भावनात्मक है।

सिंधिया महाराज भी बायजा से प्रेम करता है। शरदोत्सव में जब उन्होंने बायजा को देखा और उसकी सौंदर्य पर मुग्ध हो गया। इसलिए उन्होंने बायजा को शादी करने की जिद की थी। यहाँ सिंधिया को बायजा के प्रति प्रेम रूपासक्ती दिखाई देता है।

'पहला राजा' नाटक में पृथु के मन में भी प्रेम भावना है। बाहर से दृढ़ लगनेवाले पृथु अर्चना के प्यार में मुग्ध हो जाता है। युद्ध और संघर्ष के लिए उत्तेजित पृथु धनुष की टंकार करता है। तुरंत बाद सुनाई पड़ती है अर्चना की पायल की झंकार। पृथु को लगता है, मैं ही डमरू हूँ और मैं ही बन्सी। वह अर्चना से कह उठता है- "आओ, हिल्लोर उठ रही है। एक ही उठान में तुम्हारी धरती का आलिंगन.... और गगन की हलचल ! ....एक ही उन्माद में धनुष की टंकार और प्यार का राग। कोई उलझन नहीं, कोई दुविधा नहीं। आओ।"[80]

सूत मागध राजा की यशोगाथा, उनकी गुणगान और स्तुति करना चाहते हैं। लेकिन पृथु को यह सब व्यर्थ लगता है। उसे प्रतीत होता है कि वह रोगी है। वह अपने मन की

BALASAHEB KHARDEKAR LIBRARY

व्यथा को, अनुभूति को अर्चना के समक्ष इन शब्दों में व्यक्त करता है- "किसी ऊँची चट्टान की कड़ी चढ़ाई तय कर लेने के बाद देखता हूँ पठार, समतल भूमि। इसका क्या करूँ अर्चना ? ....मैं तो चढ़ाई का आदी हूँ। ....यह अंतहीन ऊब जिसने मुझे आ घेरा है....ऊब। आते आते श्वासों की मरूभूमि। ....कण कण में व्याप्त, जमी हुई ठिरन.... क्योंकि हवा ठहर गई है। .... और हट्टियों को भेदनेवाले सर्द झकोरे आते ही नहीं।"[81] अर्चना पृथु से इस अवसाद को अपने राशि-राशि देह वैभव में डूबा देना चाहती है। परंतु पृथु को लगता है कि यह पलायन है। वह अर्चना को समझाता है, "अर्चि सुनो। ....एक तराजू है मेरा यह तन-मन। एक पलड़े पर हम तुम्हारे आलिंगन का सोना और दूसरे पर चुनौतियों का भार। ....अगर केवल.... केवल प्यार के सम्मोहन में खो जाऊँ तो, ...तराजू के पलड़े चंचल हो जाते हैं.... अर्चि।"[82] परंतु पलायन पृथु की नियती है। कभी कर्म द्वारा और कभी भोग द्वारा वह अपने आप से भागता है।

निष्कर्ष -

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जगदीशचंद्र माथुर के नाटकीय पात्रों में सहनशीलता, युगदृष्टि, मानवतावादी दृष्टि, भाव प्रवणता, कला प्रेम, घृणा का भाव, त्याग की भवना, विद्रोह की भावना, व्यक्तिवादी चेतना, प्रेम की भावना आदि विशेषताएँ पाई जाती हैं।

माथुरजी के नाटकीय पात्र युग भावना के विराट प्रतिनिधि हैं। 'कोणार्क' में विशु और धर्मपद दोनों दो युग-प्रवृत्तियों के द्योतक बनकर आए हैं। धर्मपद बार-बार जन-शक्ति का जो उद्घाटन करता है, वह भी युगदृष्टि का परिचायक है। हिंदू-मुस्लिम एकता संबंधी दृष्टि 'शारदीया' के नरसिंहराव के चरित्र की सबसे बड़ी उपलब्धि है। नरसिंहराव मौन विद्रोह करता है। व्यक्ति की प्रतिष्ठा माथुरजी के नाटकों की मूल प्रेरणा है। इसी कारण उनके पात्र सारे मानवीय संबंधों के बीच व्यक्ति की निजी सत्ता को उजागर करते हैं। भावप्रवणता भी माथुरजी के पात्रों की एक विशेषता है। भावप्रवणता विशु, धर्मपद और नरसिंहराव में दिखाई देता है। पृथु में भी भावना का आवेग किंतु विशु, धर्मपद और नरसिंहराव की तुलना में वह बौद्धिक संतुलन से परिपूर्ण है। पृथु का भावावेग कर्म, काम, दुविधा और तनावों में बँट जाता है। माथुरजी के नाटकीय पात्र अनुभूति के साथ-साथ कल्पना का भी देन है। 'पहला राजा' नाटक में कवष और उर्वी का चरित्र कल्पना शक्ति की देन है। उनके पात्र अपने मूलभूत गुणों का अंत तक निर्वाह करते हैं।

संदर्भ सूची

1. जगदीशचंद्र माथुर - कोणार्क, पृ. 35
2. वही, पृ. 29
3. वही, पृ. 40
4. वही, पृ. 54
5. वही, पृ. 76
6. जगदीशचंद्र माथुर - शारदीया, पृ. 24
7. वही, पृ. 84
8. जगदीशचंद्र माथुर - पहला राजा, पृ. 24
9. वही, पृ. 24
10. वही, पृ. 84
11. वही, पृ. 24
12. वही, पृ. 18
13. वही, पृ. 28
14. जगदीशचंद्र माथुर - कोणार्क, पृ. 34
15. वही, पृ. 57
16. वही, पृ. 52
17. वही, पृ. 53
18. वही, पृ. 35
19. वही, पृ. 35
20. जगदीशचंद्र माथुर - शारदीया, पृ. 45
21. जगदीशचंद्र माथुर - पहला राजा, पृ. 44
22. वही, पृ. 95
23. जगदीशचंद्र माथुर - कोणार्क, पृ. 35

24. वही, पृ. 26
25. वही, पृ. 47
26. वही, पृ. 47
27. वही, पृ. 47
28. जगदीशचंद्र माथुर - शारदीया, पृ. 39
29. वही, पृ. 42
30. जगदीशचंद्र माथुर - कोणार्क, पृ. 35
31. वही, पृ. 34
32. जगदीशचंद्र माथुर - शारदीया, पृ. 22
33. वही, पृ. 23
34. वही, पृ. 27, 28
35. वही, पृ. 112
36. वही, पृ. 27
37. वही, पृ. 70
38. वही, पृ. 113
39. जगदीशचंद्र माथुर - कोणार्क, पृ. 31, 32
40. वही, पृ. 32
41. वही, पृ. 72, 73
42. वही, पृ. 73, 74
43. वही, पृ. 76
44. वही, पृ. 72
45. जगदीशचंद्र माथुर - पहला राजा, पृ. 53
46. वही, पृ. 73
47. वही, पृ. 46
48. वही, पृ. 97-98

49. वही, पृ. 18
50. वही, पृ. 24
51. वही, पृ. 68
52. वही, पृ. 69
53. वही, पृ. 93
54. जगदीशचंद्र माथुर - शारदीया, पृ. 33
55. जगदीशचंद्र माथुर - कोणार्क, पृ. 38, 39
56. वही, पृ. 42
57. जगदीशचंद्र माथुर - शारदीया, पृ. 112
58. वही, पृ. 114
59. जगदीशचंद्र माथुर - कोणार्क, पृ. 57
60. वही, पृ. 35
61. वही, पृ. 51
62. वही, पृ. 34
63. वही, पृ. 58
64. वही, पृ. 81
65. जगदीशचंद्र माथुर - शारदीया, पृ. 84
66. वही, पृ. 112
67. जगदीशचंद्र माथुर - कोणार्क, पृ. 57
68. वही, पृ. 53
69. वही, पृ. 40
70. वही, पृ. 76
71. जगदीशचंद्र माथुर - शारदीया, पृ. 44
72. जगदीशचंद्र माथुर - कोणार्क, पृ. 32
73. वही, पृ. 74

74. जगदीशचंद्र माथुर - शारदीया, पृ. 22

75. वही, पृ. 27, 28

76. वही, पृ. 108

77. वही, पृ. 114

78. वही, पृ. 27

79. वही, पृ. 34

80. जगदीशचंद्र माथुर - पहला राजा, पृ. 53

81. वही, पृ. 57, 58

82. वही, पृ. 59